ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 172-175

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

वर्णाश्रम व्यवस्था में भक्ति भावना

गीतांजली कुमारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर– हिन्दी विभाग,ए0 एन0 एस0 कॉलेज, जहानाबाद (बिहार), भारत

Received- 14.08.2020, Revised- 18.08.2020, Accepted - 21.08.2020 E-mail: - dr.ramanyadav@gmail.com

सारांश : ***वर्णाश्रम व्यवस्था संधि–विच्छेद करने से ज्ञात होता है कि यह वर्ण + आश्रम शब्द से मिलकर बना है। वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से है। जिन व्यक्तियों के गुण तथा कर्म एक–से थे अर्थात् जो समान स्वभाव के थे वे सब एक ही वर्ण के सदस्य माने जाते थे। भगवदगीता में भी इसी बात की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है ''चातुवर्ण भया सृष्ट गुणकर्म विभागशः अर्थात् मैंने ही गुण एवं कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है।[1] इस कथन से स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के गुण तथा कर्म पर आधारित तथा जिसके अन्तर्गत समाज का चार वर्णो के रूप में कार्यात्मक विभाजन हुआ है। यहाँ गुण तथा कर्म का तात्पर्य व्यक्ति के ''स्वभाव तथा 'सामाजिक' दायित्वों से है। समाज के विभिन्न कार्यों को ठीक प्रकार से चलाने के उद्देश्य से व्यक्तियों को स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए उन्हें चार वर्णों में बाँटा गया था। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अपने वर्ण धर्म का पालन करते हुए अर्थात् अपने दायित्वों को निभाते हुए सामाजिक उन्नति में योग देते थे।***

कुंजीभूत शब्द– वर्णाश्रम व्यवस्था, संधि–विच्छेद, सम्बन्ध, कर्म, स्वभाव, सदस्य, भगवदगीता, गुणकर्म विभागश।

आश्रम व्यवस्था की चर्चा करते हुए पी० वी० काणे ने कहा है कि ''वर्ण का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिए था, किन्तु आश्रम का सिद्धान्त व्यक्ति के लिए था ... ... आश्रम सिद्धान्त यह मानता है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपने जीवन को किस प्रकार से चलाना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में उसे क्या–क्या तैयारियाँ करनी हैं। निःसंदेह आश्रम सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी। भले ही यह भली–भाँति कार्यान्वित न की जा सकी किन्तु इसके उद्देश्य बड़े ही महान एवं विशिष्ट थे।''[2]

आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत एक आश्रम में रहता हुआ व्यक्ति अपने आपको दूसरे आश्रम या अवस्था के योग्य बनाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जीवन के चार विश्राम–स्थल है अर्थात् आश्रम व्यक्तित्व के विकास की चार सीढ़ियाँ हैं। इन पर क्रम से चलते हुए व्यक्ति ब्रह्मा थी, प्राप्ति करता है।''[3]

चार वर्णों एवं चार आश्रमों की चर्चा हिन्दू ध र्मशास्त्रों में नहीं की गई है। ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र ये चार वर्ण हैं। इसी तरह ब्रहमचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा सन्यास आश्रम। इन चारों वर्णों एवं आश्रमों के कर्तव्यों एवं धर्मों की भी चर्चा की गई है।

विभिन्न धर्म–ग्रन्थों में ब्राहमण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के अलग–अलग कर्तव्य या वर्ण–धर्म बताये गये हैं। ऐसा करने का उद्देश्य समाज को श्रम–विभाजन का लाभ पहुँचाना रहा है। प्रत्येक वर्ण के दायित्वों को निर्धारण कर एक और यह प्रयत्न किया गया कि सभी कार्य विशेष ज्ञान के आधार पूर्ण किये जाये और दूसरी ओर यह कि कोई भी वर्ण किसी अन्य वर्ण के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करे।

(1) ब्राह्मण–धर्म– ब्राह्मणों का मुख्य धर्म इन्द्रिय संयम बताया गया है मनुस्मृति के अनुसार वेदों का अनुशीलन (अभ्यास), तप, अध्ययन–अध्यापन एवं यज्ञों का सम्पादन ब्राह्मण के मुख्य दायित्व है। ब्राह्मणों के छः कर्तव्य बातये अये है जो इस प्रकार हैः अध्ययन और अध्यापन, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। ब्राह्मणों को सौंपे गये इन सभी दायित्वों का सम्बन्ध सात्विक गुणों के साथ है और सात्विक गुणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यही कारण है कि ब्राह्मणों को समाज में सबसे उच्च स्थिति प्रदान की गयी है। ब्राह्मण के लिए यह भी कहा गया है कि उसे शान्त प्रकृति का होना चाहिए, धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा रखनी चाहिए और पवित्रतापूर्ण जीवन बिताना चाहिए। मनु ने यह भी बताया है कि यदि ब्राह्मण उपर्युक्त कार्यों से अपनी जीविका नहीं कमा सके, तो उसे आपद धर्म के रूप में क्षत्रिय–धर्म के पालन से अपनी आजीविका कमाने की आज्ञा है।

(2) क्षत्रिय–धर्म– परोपकार करना, प्रज्ञा की रक्षा करना और युद्ध में वीरता दिखाना क्षत्रिय के महत्वपूर्ण कर्तव्य है। मनुस्मृति के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ, करना, अध्ययन करना एवं विषयों में आसक्ति न

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

रखना क्षत्रियों के प्रमुख कर्म हैं। क्षत्रिय को इतना समर्थ होना चाहिए कि वह दुष्टों को दण्ड दे सके। महाभारत में उसे क्षत्रिय माना गया है जो वेदों के अध्ययन और ब्राह्मणों को दान देने में रुचि रखता है एवं जो क्षत्रियोचित कर्मों को पूरा करता है। गीता में क्षत्रियों के सात प्रकार के धर्म बताये गये हैं। ये हैं : शूरवीरता, तेज, धैर्य चतुरता, युद्ध से न भगना, दान देना और निःस्वार्थ भाव से प्रजा का पालन करना। क्षत्रियों का यह भी दायित्व बताया गया है कि उन्हें प्रजा में अपने धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करनी चाहिए।

1 मनुस्मृति, 2–166 । 2 मनुस्मृति, 1–89।
3 गीता, 18–43।

(3) वैश्य–धर्म –वैश्यों का धर्म समाज के भरण–पोषण का दायित्व अपने ऊपर लेकर समाज के अस्तित्व को बनाये रखना है। महाभारत में बताया गया है कि वैश्य वे हैं जो वेदों के अध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु–पालन एवं कृषि कार्य से अन्न का संग्रह करने में रुचि रखना हो। वैश्य का यह कर्तव्य है कि वह उचित साधनों से धन संग्रह करे। मनुस्मृति में वैश्यों के कर्तव्य इस प्रकार बताये गये हैं : पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, व्याज पर देना एवं कृषि करना। गीता के अनुसार कृषि, गौ–रक्षा और व्यापार वैश्यों के मुख्य कार्य हैं।

(4) शूद्र–धर्म– अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का प्रमुख धर्म बताया गया है। मनु के अनुसार शूद्रों का एक ही धर्म है और वह है– अन्य तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या भाव के सेवा करना। शूद्र के लिए कहा गया है कि जहाँ तक सम्भव हो उसे किसी ब्राह्मण के सेवक के रूप में ही काम करना चाहिए। क्षत्रिय या वैश्य का सेवक तो उसे आजीविका कमाने की दृष्टि से आवश्यकतानुसार ही बनना चाहिए। शूदृष्टि से आवश्यकतानुसार ही बनना चाहिए। शूद्र के लिए बताया गया है कि उसे अध्ययन, धन–संग्रह एवं अन्य वर्णों के व्यवसाय अपनाने का कार्य नहीं करना चाहिए। शूद्र को अपने स्वामी की निःस्वार्थ–भाव से सेवा करनी चाहिए। स्वामी की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर उसे अपने बच्चों आदि के भरण–पोषण के बाद बची हुई शेष सम्पत्ति को स्वामी के भरण–पोषण में खर्च करना चाहिए। जहाँ शुद्र पर अन्य वर्णों की सेवा का दायित्व डाला गया है, वहाँ अन्य वर्णों का यह कर्तव्य बताया गया है कि इन्हें शूद्रो को आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए।

उपर्युक्त विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त सभी वर्णों के कुछ सामान्य धर्म या कर्तव्य बताये गये हैं जैसे क्षमावान होना, सरल भाव रखना, किसी से द्रोह न करना, सभी जीवों का भरण–पोषण करना, सच बोलना एवं धन बाँटकर उसको काम में लेना आदि।

उपनयन संस्कार (जनेऊ धारण करना) के बाद बालक बह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। अलग–अलग वर्ण के बालकों के लिए उपनयन संस्कार की आयु भी अलग–अलग रखी गयी है। बाह्मण बालक के लिए यह आयु 8 वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए 11 वर्ष और वैश्य बालक के लिए 12 वर्ष रखी गयी। इस संस्कार के पश्चात् ही बालक बह्माचर्य आश्रम में प्रवेश करता था बह्मचर्य दो शब्दों में बना है जिसमें से एक है–ब्रह्म और दूसरा है–चर्य। बह्म का अर्थ है– महान और चर्य का अर्थ है–अनुसरण करन या चलना। इस तरह बह्मचर्य का तात्पर्य है महानता के मार्ग पर चलना यानि महान आत्माओं का अनुसारण करना। बह्मचर्य का अर्थ यौनिक संयम से भी लगाया जाता है। लेकिन यहाँ बह्मचर्य का तात्पर्य सभी प्रकार के संयमों जैसे अनुशासन, कर्तव्य–परयणता, नैतिकता, आचरण की शुद्धता एवं पवित्रता आदि से है। डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी के अनुसार, बह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय–निग्रह से नहीं था, अपितु इन्द्रिय–निग्रहपूर्वक वेदाध्ययन से था, क्योंकि ब्रह्म और वेद ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इस आश्रम में बह्मचारी संयम से रहता हुआ अपने आप में अनेक गुणों का विकास करता तथा अपने चरित्र का निर्माण करना हुआ। भावी जीवन के लिए अपने को तैयार करता था।

बह्मचर्य आश्रम में बालक को गुरुकुल में ही रहना पड़ता था। यहाँ उसे एक विशेष प्रकार की दिनचर्या वितानी होती थी। यहाँ आते ही बालक का अध्ययन–कार्य प्रारम्भ नहीं हो जाता था। उसे गुरु की अनेक प्रकार से सेवा करनी होती थी, जैसे आश्रम में झाडू लगानी पड़ती, आश्रम की गायें चरानी पड़ती, हवन के लिए जंगल से लकड़ी लानी पड़ती और दान प्राप्त करना पड़ता था। जब गुरु बालक के कार्यों से प्रसन्न हो जाता और यह समझ लेता कि बालक में अध्ययन की वास्तविक इच्छा और जिज्ञासा है तभी उसे वेदों के अध्ययन की आज्ञा दी जाती थी। वेदों के अध्ययन का महत्व सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने, ऋ पित्रृण से छुटकारा प्राप्त करने और ऋषियों के प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त करने की दृष्टि से विशेष था।

जहाँ तक विद्यार्थी की दिनचर्या का प्रश्न है, ध र्मशास्त्रों एवं मनुसंहिता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसे प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व उठना पड़ता, उसे दिन में केवल दो बार भोजन करने की आज्ञा थी और उसके लिए शहद, मिठी वस्तुएँ, माँस, गन्ध, जूता एवं छतरी आदि का प्रयोग वर्जित था। ब्रह्मचारी के लिए कर्तव्यों का,

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

निर्धारण इस प्रकार से किया गया था कि उसका शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास ठीक ढंग से हो सके। उसके लिए संयम और विभिन्न कर्तव्यों का पालन करना इस दृष्टि से आवश्यक था कि उसका शारीरिक विकास ठीक ढंग से हो सके। यही कारण है कि उसे ऐसी वस्तुओं को प्रयोग में लेने की आज्ञा नहीं थी जो काम–भावना को भड़काने में सहायक थीं। इस आश्रम में बालक के लिए नृत्य, गायन, जुआ, झूठ, हिंसा आदि वर्जित थे। उसके लिए सत्य बोलना, पवित्रता का आचरण करना, सत्य की खोज करना और अध्ययन में रुचि लेना आवश्यक था इसी से उसका मानसिक विकास सम्भव था। अपने आध्यात्मिक विकास के लिए बालक को अपने आप में अहिंसा, सतय बह्मचर्य, सन्तोष, पवित्रता आदि गुणों का विकास करना होता था। योग–दर्शन में बताया गया है कि शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर पूजा आदि वे नियम हैं जिसे मानसिक विकास होता है आध्यात्मिक विकास हेतु यमों का पालन आवश्यक माना गया है। ये यम हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्याथी। की दिनचर्या इस प्रकार से निर्धारित की गयी है कि वह वेदों के अध्ययन के साथ–साथ अपने व्यक्तितव का पूर्ण विकास कर सके। इस आश्रम में अध्ययन कार्य समाप्त कर लेने के बाद विद्यार्थी एक प्रतीकात्मक स्नान करता था और उस स्थान के पश्चात् वह स्नातक कहलाता और गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के योग्य बनता। इस स्नान के बाद गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर वह स्नातक अपने घर लौटता था। इसे 'समावर्तन संस्कार' के नाम से जाना जाता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन कार्य पूर्ण करने के पश्चात् विवाहा संस्कार सम्पन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता जहाँ वह पचास वर्ष की आयु तक रहता है। यह आश्रम ही वह महान कर्म–स्थल है जहाँ व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त शिक्षाओं को मूर्त रूप देता है। इस आश्रम में व्यक्ति धार्मिक एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करने की ओर आगे बढ़ता है। यहाँ मर्यादा मे रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ तथा काम नामक पुरुषार्थों को प्राप्त करना है। इस आश्रम में रहकर ही वह स्वयं पनिवार एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूर्ण करता हुआ अपने को आगे के आश्रम के योग्य बनाता है। श्री गोखले ने गृहस्थ धर्म के सम्बन्ध में बताया है कि इस आश्रम के अन्तर्गत एक गृहस्थ का धर्म है कि वह जीव–हत्या, असंयम तथा असत्य से दूर रहे, पक्षपात, शत्रुता, निर्बुद्धिता तथा डर को पास न आने दे। मादक द्रव्यों का सेवल, कुसंग, अकर्मण्यता और चाटुकारों पर धन व्यय न करे, माता–पिता, आचार्यों और वृद्धों का आदर करे, पत्नी के प्रति उसका व्यवहार धर्म, अर्थ तथा काम की मर्यादाओं के अनुसार हो। इस प्रकार परिवार के सदस्यों में पारस्परिक आदर तथा एक–दूसरे के कल्याण का ध्यान ही कुल–धर्म का सार है।1 गृहस्थ के इन सभी दायित्वों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम व्यक्ति के लिए भोग एवं विलास का काल न होकर तयागमय जीवन, कर्म और साधना का महान स्थल है।

गृहस्थाश्रम के सारे दायित्यों को यज्ञ, दान और तप के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। यज्ञ का अर्थ है– देवताओं, ऋषियों, माता–पिता, अतिथियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति अपने दायित्त्व को निभाना। दान का तात्पर्य भिक्षा देने से नहीं है बल्कि इसे उस साधन के रूप में माना गया है तप के तीन प्रकार बताये गये हैं–शारीरिक, वाणी सम्बन्ध सम्बन्धी एवं मानसिक । देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं विद्वान–जनों का पूजन करना और पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का आचरण करना शरीर सम्बन्धी तप है। वाणी सम्बन्धी तप उसे माना गया है जो प्रिय, हितकारी एवं यथार्थ, हो जो व्यक्ति को उद्वेगों से दूर रखता हो तथा जो वेद–शास्त्रों के अभ्यास से सम्बन्धित हो। मन की प्रसन्नता, शान्त स्वभाव, इन्द्रियों का दमन एवं अन्तःकरण की पवित्रता मानसिक तप हैं।

शास्त्रकारों के अनुसार 50 वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर व्यक्ति को वान–प्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। मनु ने बताया है कि जब गृहस्थ यह देखे कि उसके शरीर की तवचा शिथिल हो गयी है, उसमें झरियाँ पड़ गयी हैं, बल पक गये हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गया है, तब विषयों से मुक्त होकर अह वन का आश्रम ले।1 डॉ० काणे ने लिखा है कि 50 वर्ष के लगभग की अबस्थ हो जाने पर व्यक्ति संसार के सुख एवं वासनाओं की भूख से ऊब उठता था तथा वन की राह ले लेता था जहाँ वह आत्म–निग्रही, तपस्वी एवं निरपराथ जीवन व्यतीत करता था।2 शाब्दिक दृष्टि से वानप्रस्थ का र्आि है, 'वन की ओर प्रस्थान करना।' स्पष्ट है कि 50 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति अपने परिवार नाते–रिश्तेदारों और समाज को छोड़कर जंगल मे चला जाता है और मानव–मात्र की सेवा में अपना समय लगाता है। वह 75 वर्ष की आयु तक उसी आश्रम में रहता है। वानप्रस्थी के लिए बताया गया है कि उसे जंगल में एक कुटिया बनाकर रहना चाहिए। वह जंगल में अकेला भी जा सकता है और अपनी पत्नी के साथ भी रह सकता है, घन से निकलकर जंगल से रहकर वह त्याग और तपस्यामय जीवन व्यतीत करता है तथा विषय–भागों पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न करता है। वन में वह सरल, त्यागमय तथा सेवामय पवित्र जीवन बिताता है तथा अपने को प्रभु–चिन्तन में लगा देता है। वानप्रस्थी यहाँ निष्काम

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

भाव से कर्म करता है। वह विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने के साथ– साथ उनके चरित्र–निर्माण और व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योग देता है।

इसी आश्रम का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति को संन्यास आश्रम के लिए तैयार करना रहा है और इसी बात को ध्यान मे रखते हुए वानप्रस्थी के कर्तव्यों को निश्चित किया गया है। यहाँ वह सांसारिक सुखों से अलग होने की कोशिश करता है। यहाँ वह भोजन के रूप में कन्द–मूल और फलों का सेवन करता है तथा वस्त्र के लिए मृगचर्म या पेड़ की छाल–पत्तों को काम मे लेता है। कुल्लूक भट्ट ने इन्द्रिय–संयम, सांसा–रिकता से विरक्ति, समता का भाव, जीवों के प्रति दया और भिक्षा द्वारा जीवन–निर्वाह वानप्रस्थी के मुख्य धर्म बताये हैं। वनप्रस्थी के लिए बताया गया है कि उसे जमीन पर सोना तथा घास–फूस से बनी कुटिया या पेड़ के नीचे रहना चाहिए। वह भीषण गर्मी में भी अग्नि के सम्मुख बैठकर यज्ञ करता है। यहाँ पर भी वह गृहस्थ आश्रम में किये जाने वाले पंच–महायज्ञों को जारी रखता है। भिक्षा के रूप में भोजन के लिए वह जो कुछ प्राप्त करता, उसमे से वह दान तथा अतिथियों का भी सत्कार करता। इस आरम में वह धार्मिक ग्रन्थों–वेदों, उपनिषदों आदि का अध्ययन करता। गर्मी, सर्दी और वर्षा की चिन्ता न करते हुए वह तप करता, चाहे इससे शरीर को कितना ही कष्ट क्यों न हो। इस प्रकार शरीर के प्रति भी उसका मोह समाप्त हो जाता था वानप्रस्थी का जीवन स्वाध्याय, अग्निहोत्र, संगम तथा प्राणीमात्र के प्रति करुणा तथा मैत्री से पूर्ण होता है। इस प्रकार सदाचारी और संयमी जीवन विताता हुआ वानप्रस्थी अपने को सन्यास आश्रम के लिए तैयार करता था।

मनुस्मृति में बताया गया है कि आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत करने के बाद आयु के चौथे भाग में प्रवेश करते ही वानप्रस्थी सभी का साथ छोड़कर परि–व्राजक बन जाये। जीवन के चौथे भाग अथात् 75 वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थी संसार को छोड़कर सन्यास–आश्रम में प्रवेश करता था। अब वह सामाजिक और सांसारिक सम्बन्धों से पूर्णतया अलग हो जाता था। सन्यासी उसे ही माना गया है जो सांर का पूरी तरह त्याग कर चुका हो। सन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर व्यक्ति अपना पुराना नाम भी त्याग देता और सन्यासी के रूप में नवीन नाम ग्रहण करता। इस आश्रम में सन्यासी के लिए एक ही पुरुषार्थ प्राप्त करना शेष रहता और वह है– मोक्ष। इसी की प्राप्ति के लिए उसे सब कुछ त्यागना पड़ता है। वह स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं रहता एक स्थान में दूसरे स्थान पर घूमता रहता और लोगों को उपदेश देता रहता। सन्यासी को अपने पास कुछ भी रखने की आज्ञा नहीं थी। वह जीवन–मृत्यु की चिन्ता से परे होता था। अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह दिन में केवल एक बार भिक्षा माँग सकता था। जो कुछ मिल जाता है उसी में उसे सन्तोष था, अधिक मिलने पर वह प्रसन्न नहीं होता और न मिलने पर वह दुःखी नहीं होता।

वायु–पुराण के अध्याय 8 में सन्यासी के दस कर्तव्य बताये गये है : भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करना, चोरी न करना, बाह्म तथा आन्तरिक पवित्रता रखना, प्रमादी न होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, दया करना, प्राणियों के प्रति क्षमावान होना, क्रोधन करना, गुरु की सेवा करना तथा सत्य बोलना। मनु ने लिखा है कि सन्यासी को अपने पर पूर्ण सयम रखना चाहिए। उसे नीचे दृष्टि करके चलना चाहिए, कपड़े से छानकर जल पीना चाहिए, सत्य से पवित्र करके वाणी का प्रयोग करना चाहिए एवं मन को पूर्ण पवित्र रखकर आचरण करना चाहिए।

साधारणताः व्यक्ति वानप्रस्थ–आश्रम में समय बिताने के पश्चात् ही सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। लेकिन यदि वह यह महसूस करता कि उसे संसार के प्रति विरक्ति हो गयी है तो वह गृहस्थ से सीधा ही संन्यास–आश्रम में प्रवेश कर सकता था। इसी तरह यदि कोई ब्रह्मचारी विषय–भोग की इच्छा से पूर्णतया रहित होता, यदि उसमें जनकल्याण की भावना बहुत तीव्र होती, यदि इन्द्रियों पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता, तो वह भी सीधा ही बह्मचर्य आश्रम से सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता था।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गीता, अध्याय 4, श्लोक 13 .
2. मनुस्मृति, 2–166 .
3. मनुस्मृति, 1–89 .
4. गीता, 18–43 .
5. बी० जी० गोखले : इंडियन सोशल थॉर थ्रो दि ऐज, पृ०–41 .
6. मउ स्मृति , 6/2.
7. जी० वी० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास , पृ० 207.

*****